International Research Journal of Human Resources and Social Sciences
ISSN(O): (2349-4085) ISSN(P): (2394-4218)
Impact Factor- 5.414, Volume 5, Issue 2, February 2018
Website- www.aarf.asia, **Email** : editor@aarf.asia , editoraarf@gmail.com

हिन्दी में डिंगल का प्राधान्य

डॉ0 मंजू पटेल
सहायक प्राध्यापिका (हिन्दी)
श्री भगवान दास आदर्श संस्कृत महाविद्यालय (हरिद्वार)

राजस्थान के कवियों ने अपनी कविताएँ मुख्यतः दो भागों में लिखी हैं–डिंगल और पिंगल। ईसरदास, दुरसाजी, पृथ्वीराज आदि की गणना यहाँ डिंगल के कवियों में और चन्द, मीराँ, वृन्द आदि की पिंगल की कवियों में की जाती है। यह डिंगल राजस्थान की बोलचाल की भाषा, राजस्थानी की एक बोली, मरुभाषा अथवा मारवाड़ी का साहित्यिक रूप है और इसमें प्रचुर साहित्य पाया जाता है।

भारतीय आर्य–भाषाओं के उद्‌भव और विकास को विशेषज्ञों ने तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है। प्रथम अवस्था 'प्राचीन भारतीय आर्य–भाषा' के नाम से प्रसिद्ध है, जिसमें आर्य–भाषा के प्राचीनतम रूप 'संस्कृत' का अध्ययन किया जाता है। दूसरी अवस्था 'प्राकृत' के समय रही है, जिसे 'मध्यकालीन भारतीय आर्य–भाषा' कहते हैं और तीसरी अवस्था है 'नव्य भारतीय आर्य–भाषा'। अपभ्रंश से चलकर राजस्थानी एवं अन्य आधुनिक भारतीय आर्य–भाषाओं ने इसी तीसरी अवस्था में विकास पाया है।

भारतीय आर्य–भाषा के इस श्रृंखलाबद्ध इतिहास में हमें उसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में देखने को मिलता है। यह ग्रन्थ लगभग ईस्वी पूर्व दसवीं शताब्दी में मध्यदेश अर्थात् आधुनिक उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में संगृहीत हुआ और प्राचीन ब्राह्मी लिपि में लिखा गया था। भाषा–वैज्ञानिकों का अनुमान है कि आर्य जब मध्य एशिया से भारत की ओर चलकर पंजाब में बसे, उस समय जिस भाषा का वे व्यवहार करते थे, उसी भाषा का एक रूप ऋग्वेद की भाषा में मिलता है।

परन्तु सम्पूर्ण ऋग्वेद की भाषा उस युग की नहीं है। इसके प्रथम और दशम मण्डल के सूक्तों की भाषा अपेक्षाकृत परवर्ती युग की है। इसके अतिरिक्त उसमें एक ही शब्द के अनेक रूप मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के सभी सूक्त या मन्त्र न तो एक ही समय में बने हैं और न उनकी रचना किसी एक ही स्थान पर हुई है। फिर भी हमारे सामने आर्य–भाषा का आदि रूप जानने के लिए इस ग्रन्थ के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं है, केवल कुछ मंत्र ही ऐसे हैं जो प्राचीनतम समझे जा सकते हैं और हमें उन्हीं की भाषा को आदि भाषा के रूप में स्वीकार करना पड़ता है।

भारतीय आर्य–भाषा के इस प्राचीनतम रूप से ही 'संस्कृत' और 'प्राकृत' का विकास हुआ है। 'भाषा' का यह नियम है कि जब वह व्याकरण के अस्वाभाविक नियमों में बांध दी जाती है तब उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है, साथ ही जनसाधारण द्वारा उन व्याकरणिक मर्यादाओं का पालन न होने से वह साधारण बोलचाल की भाषा से भी दूर हो जाती है। कालान्तर में जब वैदिक संस्कृत को भी व्याकरण द्वारा सुस्थिर कर दिया गया, तब न तो वह आगे बढ़ सकी और न जनसाधारण की भाषा बनी रही।

© Associated Asia Research Foundation (AARF)
A Monthly Double-Blind Peer Reviewed Refereed Open Access International e-Journal - Included in the International Serial Directories.

इस प्रकार प्राचीनतम आर्य–भाषा का जो रूप सुस्थिर किया गया, वह प्रारम्भ में 'लौकिक भाषा' और कालान्तर में 'संस्कृत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'देवभाषा' भी तब इसी को कहते थे। यह भाषा केवल शिष्ट समुदाय की भाषा रही, बोलचाल की भाषा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा।

परन्तु वैदिक संस्कृत का जो रूप स्वच्छन्द रहा, उसका जनसाधारण के बीच निरन्तर विकास होता रहा। संस्कृत के शिष्ट वर्ग की भाषा बन चुकने पर उसी ने साधारण बोलचाल के रूप में 'प्राकृत' नाम से अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त की। आगे चलकर इसके मुख्य दो भेद हो गये–पहली या प्राचीन प्राकृत और दूसरी प्राकृत। पाली और अर्धमागधी पहली प्राकृत के विकसित रूप है, जिसमें बौद्ध और जैन ग्रन्थ लिखे मिलते हैं। प्राकृत के दूसरे रूप के अंतर्गत शोरसैनी, मागधी और महाराष्ट्री मुख्य तीन प्राकतें मानी जाती हैं। महाराष्ट्री का सीधा सम्बन्ध मराठी से है, किन्तु इस विषय में आजकल एक नवीन मत सामने आया है। उसके अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत शोरसैनी प्राकृत से उत्पन्न एक विशेष प्रकार की छोटी मध्यदेशीय बोली सिद्ध हुई है।

भारतीय आर्य–भाषा के विकास–क्रम में प्राकृत के बाद अपभ्रंश का युग आता है। क्योंकि जब धीरे–धीरे प्राकृत भी एक समय जनसाधारण से दूर होकर व्याकरण में बंध गई और केवल शिक्षित समुदाय अथवा साहित्य के उपयोग में आने लगी तब उसको स्वच्छन्द धारा, जो जनसाधारण में पनप रही थी, अपभ्रंश के नाम से साधारण बोलचाल के रूप में फूट निकली। इस लौकिक भाषा के लिए भाषार्थक 'अपभ्रंश' शब्द ईसा की छठी शताब्दी से प्रयुक्त होने लगा है। इससे पूर्व केवल अपाणिनीय (अशुद्ध) शब्दों के लिए ही इसका प्रयोग किया जाता था। इसका श्रृंखलाबद्ध इतिहास विक्रम की छठीं शताब्दी से लेकर दशवी शताब्दी के अन्त या ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मिलता है। इसके बाद इसकी भी यही स्थिति होती है जो प्राकृत की हुई थी। यद्यपि इसने इन चार सौ वर्षो के सुदीर्घ समय में अपना पर्याप्त विकास किया और देश के विभिन्न भागों में फैल गई, लेकिन यहाँ आकर इसके दो भेद हो ही गये–एक साहित्यनिष्ठ या शिष्ट अपभ्रंश और दूसरी ग्राम्य या लौकिक अपभ्रंश। साहित्यनिष्ठ अपभ्रंश से पृथक् ग्राम्य अपभ्रंश का अस्तित्व आचार्य हेमचन्द्र ने भी स्वीकार किया है। शिष्ट अपभ्रंश व्याकरणबद्ध और केवल साहित्य या शिक्षित समुदाय के लिए थी, जबकि उसका ग्राम्य रूप सामान्य लोक–जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। आधुनिक भारतीय आर्य–भाषाओं का विकास अपभ्रंश के इसी लौकिक या ग्राम्य रूप से हुआ है। ग्यारहवीं शताब्दी के बाद भी अपभ्रंश में साहित्य–रचना होती रही, लेकिन तब उसकी प्रतिष्ठा देशी भाषाओं ने प्राप्त कर ली थी। अपभ्रंश के कई भेद–उपभेद थे।

डॉ0 तैस्सितोरी ने राजस्थान को शौरसेनी अपभ्रंश का क्षेत्र माना है। इस शोरसैनी अपभ्रंश का आधार प्राकृत का शौरसेनी रूप था। इसके दो स्वरूप थे–पूर्वी अपभ्रंश और पश्चिमी अपभ्रंश। इनसे राजस्थानी का विकास हुआ है।

राजस्थानी राजस्थान और मध्य प्रदेश के कुछ भागों में बोली जाती है। इसकी कई बोलियाँ मानी जाती हैं। डॉ0 गियर्सन ने इन बोलियों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें पाँच खण्डों में विभक्त किया है, जो इस प्रकार है –

(1) पश्चिमी राजस्थानी – इस खंड में मारवाड़ी, थली, ढटकी, बीकानेरी, मेवाड़ी, बागड़ी, शेखावाटी, मारवाड़ी–गुजराती सिरोही, आबू–लोक की बोली, गोढ़वाड़ी, देवड़ावाटी और खैराड़ी–इन बोलियों को रखा गया है।

(2) उत्तर–पूर्वी राजस्थानी – इसमें मेवाती और अहीरवाटी को लिया गया है।

(3) मध्य–पूर्वी राजस्थानी – इसके अंतर्गत जयपुरी, हाडौती, तोरावाटी, काठैड़ा, राजावाटी, चौरासी, अजमेरी, किशनगढ़ी और नागरचाल बोलियाँ आती हैं।

(4) दक्षिण–पूर्वी राजस्थानी – इसमें मालवी, सौंधवाड़ी और ली गई हैं।

(5) दक्षिणी राजस्थानी – इसमें निमाडी बोली जाती है।

परन्तु राजस्थानी के मुख्य दो ही भेद माने जा सकते हैं–पूर्वी राजस्थानी और पश्चिमी राजस्थानी। ये दोनों भेद उपरोक्त शौरसेनी अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी रूपों पर आधारित हैं। राजस्थानी की मुख्य पाँच बोलियाँ हैं–(1) मारवाड़ी, (2) ढँढाड़ी,

(3) मेवाती, (4) मालवी और (5) वागड़ी। इनके अतिरिक्त इसकी जो बोलियाँ अथवा उपबोलियाँ बताई गई हैं, वे वास्तव में इन्हीं के इतर नाम या स्थानीय रूपान्तर हैं।

राजस्थानी की बोलियों में सबसे अधिक विस्तार मारवाड़ी का है। यह एक बहुत पुरानी बोली है। इसका प्राचीन नाम मरुभाषा है। यह जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, सिरोही और मेवाड़ में बोली जाती है और शेखावाटी, पालणपुर, पंजाब आदि के भी कुछ भागों में प्रचलित है। मेवाड़ी, बीकानेरी, थली आदि इसके स्थानीय नाम अथवा रूपान्तर है। मारवाड़ी का आदर्श रूप जोधपुर के आस–पास पाया जाता है। यह एक मनोहारिणी भाषा है। विशेष कर वीर रस के लिए यह बहुत उपयुक्त है। राजस्थान के दो प्रसिद्ध राग 'सिंधू' और 'माँड' इसमें खूब खिलते हैं। इसमें लिखित और मौखिक दोनों प्रकार के साहित्य का प्राचुर्य है। ऐतिहासिक साहित्य तो इसकी अपनी एक खास विशेषता है।

मारवाड़ी डिंगल नाम से भी प्रसिद्ध है। यह नाम इसके साहित्यिक रूप को दिया गया है, विशेषकर चारणों द्वारा प्रयुक्त पद्यात्मक साहित्यिक रूप को। इसकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। कोई इसकी उत्पत्ति 'डगळ' से कोई 'डिम+गळ' से कोई 'डिग्गी+गळ' से और कोई संस्कृत के 'डीङ्' धातु से बतलाते हैं। इसके विपरीत कुछ विद्वान् डिंगल शब्द को बिल्कुल निरर्थक मानते हैं। उनका कहना है कि केवल पिंगल शब्द के साथ काफिया मिलाने के लिये इसे गढ़ लिया गया है। डॉ. तैस्सितोरी, डॉ. ग्रियर्सन, डॉ. श्यामसुन्दर दास, डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति विद्वानों के मतानुसार पिंगल के साम्य पर डिंगल शब्द का निर्माण हुआ है।

उपरोक्त मत–मतान्तरों के फलस्वरूप निम्नलिखित तीन प्रश्न हमारे सामने हैं, जिन पर विचार करना आवश्यक है –

1. क्या डिंगल शब्द निरर्थक है?
2. क्या डिंगल शब्द 'पिंगल' के साम्य पर गढ़ा गया है?
3. वह कौन सा शब्द अथवा धातु है, जिससे डिंगल शब्द की उत्पत्ति हुई है?

(1) डिंगल शब्द निरर्थक नहीं है। यह मरुभाषा अथवा मारवाड़ी का पर्यायवाची शब्द है। कविराज सूर्यमल ने भी इस ओर संकेत किया है–

(क) डिंगल उपनामक कहुँक, मरुबानी हु विधेय।
अपभ्रश जा में अधिक, सदा वीर रस सेय।।

(ख) मरु भाषा डिंगल भाषेत्येके।

(2) डिंगल शब्द पिंगल शब्द के साम्य पर बनाया गया है यह कथन भी निराधार है; क्योंकि भाषा के अर्थ में डिंगल शब्द पिंगल शब्द की अपेक्षा अधिक पुराना है, जैसा कि 'पिंगलशिरोमणि' ग्रंथ से विदित होता है। यह जैसलमेर के रावल मालदे के शासन–काल में लिखा गया था। इतिहासकारों ने मालदे का शासन–समय सं0 1607–1618 माना है। अतएव, यही समय 'पिंगलशिरोमणि' की रचना का भी समझना चाहिए। इस ग्रंथ में स्थान–स्थान पर डिंगल शब्द का प्रयोग हुआ है –

(क) ''आ साख रासारी। चैडोळ नाम हाथी री छै।
जिका साख बारहट सुंदरसणउ डिंगल थी कहै।''

(ख) ''अथउ डिंगळ नाम–माला''

लेकिन भाषा के अर्थ में पिंगल शब्द बहुत पीछे से व्यवहार में आने लगा है। इस अर्थ में इसका सर्वप्रथम प्रयोग सिख–संप्रदाय के प्रसिद्ध गुरु गोविन्दसिंह (सं0 1723–65) के 'विचित्र नाटक' में देखने को मिलता है। जैसे–'भाषा पिंगल दो।'' ऐसी दशा में पिंगल की समकक्षता में डिंगल शब्द के गढ़े जाने की जो बात कही जाती है, वह सर्वथा असंगत है।

अधिक संभावना तो यही है कि डिंगल की अनुकृति पर पिंगल शब्द बृजभाषा के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। प्रारंभ में यह शब्द केवल छंदशास्त्र का द्योतक था; लेकिन क्यों वह ब्रजभाषा के अर्थ में व्यवहृत होने लगा? यह ज्ञात नहीं हो पाया है। जो भी हो, यह एक पृथक् शोध–खोज का विषय है। अनुसंधान–प्रेमियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।